अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

हिल स्टेशन

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

उन दिनों मिर्ज़ा के होशोहवास पर हिल-स्टेशन बुरी तरह सवार था। लेकिन हमारा हाल उनसे भी ज़्यादा ख़स्ता था। इसलिए कि हम पर मिर्ज़ा अपने प्रभावित होशोहवास और हिल-स्टेशन समेत सवार थे। जान मुश्किल में थी। उठते-बैठते, सोते-जागते इसी की चर्चा, इसी का भजन। हुआ यह कि वे सरकारी ख़र्च पर दो दिन के लिए कोयटा हो आए थे और अब इस पर मचले थे कि हम बिना वेतन का अवकाश लेकर उनके साथ वहाँ गुज़ार आएँ, जैसा कि गरमियों में कराची के शोरफ़ा (कुलीनों) और बड़े लोगों का दस्तूर है। हमने कहाः

"सच पूछो तो हम इसीलिए वहाँ जाना नहीं चाहते कि जिन लोगों के साए से हम कराची में साल भर बचते फिरते हैं, वे सब मई-जून में वहाँ जमा हो जाते हैं।"

बोले, "ठीक कहते हो। मगर ख़ुदा के बन्दे! अपनी सेहत तो देखो। तुम्हें अपने बाल-बच्चों पर तरस नहीं आता? कब तक हकीम डॉक्टरों का पेट पालते रहोगे? वहाँ पहुँचते ही बिना दवा के चाक़-चौबंद हो जाओगे। पानी में दवा का असर है" और (मुस्कुराते हुए) "किसी-किसी दिन मज़ा भी वैसा ही। यूँ भी जो समय पहाड़ पर गुज़रे, उम्र से घटाया नहीं जाता। मक्खी, मच्छर का नाम नहीं। कीचड़ ढूँढे से नहीं मिलती। इसलिए कि पानी की सख़्त क़िल्लत है। लोगों की तंदुरुस्ती का हाल तुम्हें क्या बताऊँ। जिसे देखो, गालों से गुलाबी रंग टपका पड़ रहा है। अभी पिछले साल वहाँ एक मंत्री ने अस्पताल का उदघाटन किया तो तीन दिन पहले एक मरीज़ को कराची से बुलवाना पड़ा और उसकी निगरानी पर चार बड़े डॉक्टर लगाए गए कि कहीं वह उदघाटन समारोह से पहले ही स्वस्थ न हो जाए।"

हमने कहा, "आबोहवा अपनी जगह लेकिन हम दवा के बिना ख़ुद को नॉर्मल महसूस नहीं करते।"

बोले, "इसकी फ़िक्र न करो। कोयटा में आँख बंद करके किसी भी बाज़ार में चले जाओ, हर तीसरी दुकान दवाओं की मिलेगी और हर दूसरी दुकान तन्दूरी रोटियों की।"

पूछा, "और पहली दूकान?"

बोले, "उसमें उन दुकानों के लिए साइन-बोर्ड तैयार किये जाते हैं।"

हमने कहा, "लेकिन कराची की तरह वहाँ क़दम-क़दम पर डॉक्टर कहाँ? आजकल तो बग़ैर डॉक्टर की मदद के आदमी मर भी नहीं सकता।"

कहने लगे, "छोड़ो भी! फ़र्ज़ी बीमारियों के लिए तो यूनानी दवाएँ रामबाण होती हैं।"

हमारे ग़लत शकों और ग़लत-फ़हमियों को इस तार्किक तरीक़े से ख़त्म करने के बाद उन्होंने अपना वकीलों जैसा लबो-लहजा छोड़ा और बड़ी गर्मजोशी से हमारा हाथ अपने हाथ में लेकर "हम नेको-बद हुज़ूर को समझाए जाते हैं" वाले अंदाज़ में कहाः

"भई, अब तुम्हारा शुमार भी हैसियतदारों में होने लगा। जभी तो बैंक को पाँच हज़ार क़र्ज़ देने में ज़रा भी झिझक नहीं हुई। वल्लाह! मैं जलता नहीं। खुदा जल्द तुम्हारी हैसियत में इतनी तरक़्क़ी दे कि पचास हज़ार तक क़र्ज़दार बन सको। मैं अपनी जगह सिर्फ़ यह कहना चाहता था कि अब तुम्हें अपने इनकम ब्रैकेट[1] वालों की तरह गरमियाँ गुज़ारने हिल-स्टेशन जाना चाहिए। यह नहीं तो कम-से-कम छुट्टी लेकर घर ही बैठ जाया करो। तुम्हारा यूँ खुलेआम सड़कों पर फिरना किसी तरह मुनासिब नहीं। मेरी सुनो 1956 ई. की बात है। गरमियों में कुछ यही दिन थे। मेरी बड़ी बच्ची स्कूल से लौटी तो बहुत रूहांसी थी। कुरेदने पर पता चला उसकी एक सहेली ने जो स्वात घाटी जा रही थी, ताना दिया कि क्या तुम लोग कंगाल हो, जो साल भर अपने ही घर में रहते हो? साहब! वह दिन है और आजका दिन, मैं तो हर साल मई-जून में छुट्टी लेकर बाल-बच्चों समेत "अंडर-ग्राउंड" हो जाता हूँ।"

फिर उन्होंने कराची के और भी बहुत से भूमिगत कुलीनों के नाम बताये जो उन्हीं की तरह साल-के-साल अपनी इज़्ज़त और आबरू की हिफ़ाज़त करते हैं। अपना यह वार कारगर होता देखा तो "नॉक-आउट" वार किया। फ़रमायाः

"तुम जो इधर दस साल से छुट्टी पर नहीं गए तो लोगों को लगने लगा है कि तुम इस डरके मारे नहीं खिसकते कि दफ़्तर वालों को कहीं यह पता न चल जाए कि तुम्हारे बग़ैर भी बखूबी काम चल सकता है।"

क़िस्सा हातिम ताई में एक जादुई पहाड़ का उल्लेख आता है। 'कोहे-निदा[II]' उसका नाम है और यह नाम यूँ पड़ा कि पर्वत शिखर से एक अजीबो-ग़रीब आवाज़ आती है कि जिस किसी को यह सुनाई दे, वह जिस हालत में, जहाँ भी हो, बेइख़्तियार उसी की ओर दौड़ने लगता है। फिर दुनिया की कोई ताक़त, कोई रिश्ता-नाता, कोई बंधन उसे रोक नहीं सकता। अब लोग इसे क़िस्सा-कहानी समझकर मुस्कुरा देते हैं, हालाँकि सुनने वालों ने सुना है कि ऐसी आवाज़ अब हर साल हर पहाड़ से आने लगी है। मिर्ज़ा का कहना है कि यह आवाज़ जब तुम्हें पहले-पहल सुनाई दे तो अपनी दरिद्रता को अपने और पहाड़ के बीच बाधा न बनने दो। लिहाज़ा तय पाया कि सेहत और ग़ैरत का यही तक़ाज़ा है कि हिल स्टेशन चला जाए। चाहे और क़र्ज़ ही क्यों न लेना पड़े। हमने दबे स्वर में याद दिलाया कि "क़र्ज़ मुहब्बत की क़ैंची है।" मिर्ज़ा बोले, "देखते नहीं, लोग इस क़ैंची को कैसी कुशलता से इस्तेमाल करके अपनी मुश्किलें दूसरों को स्थानांतरित कर देते हैं? साहब! हुनरमंद के हाथ में औज़ार भी हथियार बन जाता है।" यहाँ यह स्पष्टीकरण शायद बेमौक़ा न होगा कि क़र्ज़ के मामले में मिर्ज़ा की पंद्रह-बीस साल से वही अवधारणा है जो मौलाना 'हाली' की तालीम (शिक्षा) और हुनर के बारे में थी, यानी हर तरह से हासिल करना चाहिए

---

[1] इनकम ब्रैकेटः समान आमदनी वालों का वर्ग। (ले.)

[II] कोहे-निदाः आवाज़ देने वाला या पुकारने वाल पर्वत. (अनु.)

लेकिन हमने इतनी शर्त ज़रूर लगा दी कि प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस साथ होंगे तो ज़रा दिल्लगी रहेगी और ज़िरग़ौस भी साथ चलेंगे। बल्कि हम सब उन्ही की चमचमाती ब्यूक कार में चलेंगे।

प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस मज़ाक़िया न सही, मज़ाक़ के मौक़े ज़रूर उपलब्ध कराते रहते हैं। मगर उन्हें घसीटने में मज़ाक़ व मनोरंजन के अलावा उनका लोक-परलोक सुधारने की भावना भी कार्यरत थी। वह यूँ कि क़स्बा चाकसू से कराची अवतरित होने के बाद वे पंद्रह साल से रेल में नहीं बैठे थे और अब यह हाल हो गया था कि कभी म्युनिसिपल सीमाओं से बाहर क़दम पड़ जाए तो अपने को परदेसी महसूस करने लगते। आख़िर किस बाप के बेटे हैं। इनके पिताश्री मरते मर गए, मगर फ़िरंगी की रेल में नहीं बैठे और अंतिम साँस तक इस आस्था पर बड़ी स्थित-प्रज्ञता से क़ायम रहे कि दूसरे क़स्बों में चाँद उतना बड़ा हो ही नहीं सकता जितना कि चाकसू में। प्राकृतिक दृश्यों के प्रेमी हैं। ख़ास तौर पर सिन्धु नदी के। कहते हैं, "ख़ुदा की क़सम! इससे ख़ूबसूरत नदी नहीं देखी।" वे क़स्में न भी खाएँ तो भी यह दावा शब्दशः सही है। इसलिए कि उन्होंने वाक़ई कोई और नदी नहीं देखी। ख़ुदा जाने कब से उधार खाए बैठे थे। बस टोकने की देर थी। कहने लगे, "ज़रूर चलूँगा। कराची तो निरा रेगिस्तान है। बारिश का नाम नहीं। दो साल से कान परनाले की आवाज़ को तरस गए हैं। मैं तो सावन भादों में रात को ग़ुसलख़ाने का नल खुला छोड़कर सोता हूँ ताकि सपने में टपटप की आवाज़ आती रहे।" मिर्ज़ा ने टोका कि कोयटा में भी बरसात में बारिश नहीं होती। पूछा, "क्या मतलब?" बोले, "जाड़े में होती है।"

फिर भी "पाक बोहीमियन कॉफ़ी हाउस" में कई दिन तक अटकल-बाज़ियाँ होती रहीं कि प्रोफ़ेसर क़ुद्दूस साथ चलने के लिए इतनी जल्दी कैसे तैयार हो गए और कोयटा का नाम सुनते ही मुल्तान की कोरी सुराही की तरह क्यों सनसनाने लगे। मिर्ज़ा ने कुछ और ही वजह बताई। फ़रमाया, "क़िस्सा दरअसल यह है कि प्रोफ़ेसर के एक दोस्त उनके लिए पैरिस से समूर के दस्ताने तोहफ़े में लाए हैं, जिन्हें पहनने की हवस में वे जल्द-से-जल्द किसी हिल-स्टेशन जाना चाहते हैं, क्योंकि कराची में तो लोग दिसंबर में भी मलमल के कुरते पहनकर आइसक्रीम खाने निकलते हैं।" इस सुन्दर कारण की पुष्टि एक हद तक उस सूटकेस से भी हुई जिसमें प्रोफ़ेसर ये दस्ताने रखकर ले गए थे। उस पर यूरोप के होटलों के रंगबिरंगे लेबल चिपके हुए थे। वे इसे कभी झाड़ते-पोंछते नहीं थे कि कहीं वे उतर न जाएँ।

अब रहे ज़िरग़ौस। तो औपचारिक परिचय के लिए इतना काफ़ी होगा कि पूरा नाम ज़िरग़ामुल-इस्लाम सिद्दीक़ी एम.ए.एल.एल.बी. सीनियर एडवोकेट है। हमारे यूनिवर्सिटी के साथी हैं। उस ज़माने में लड़के स्नेह व संक्षिप्तता के कारण उन्हें "ज़िरग़ौस" कहते थे। उस अन्तरंग मित्र-मंडली में आज भी इसी संक्षिप्त नाम से पुकारे और याद किये जाते हैं। अक्सर अपरिचित आपत्ति कर बैठते हैं, भला यह भी कोई नाम हुआ। लेकिन एक दफ़ा उन्हें देख लें तो कहते हैं, ठीक ही है। प्रोफ़ेसर ने उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण, बल्कि पोस्टमार्टम करते हुए एक बार बड़े मज़े की बात कही। फ़रमाया, "उनके व्यक्तित्व में से 'बैंक बैलेंस' और 'ब्यूक' निकाल दें

तो बाक़ी क्या बचा रह जाता है?" मिर्ज़ा ने झट से लुक़मा दिया, "एक अभागी बीवी-----!" सैर-तफ़रीह के रसिया, लेकिन ज़रा खुरचकर देखिये तो अन्दर से ठेठ शहरी। ऐसा शहरी जो बड़ी मेहनत, बड़ी मशक़्क़त से जंगलों को ख़त्म करके शहर आबाद करता है और जब शहर आबाद हो जाते हैं तो फिर जंगलों की तलाश में मारा-मारा फिरता है। बड़े वज़ादार (रीति-निर्वाहक) आदमी हैं और उस क़बीले से हैं जो फाँसी के तख़्ते पर चढ़ने से पहले अपनी टाई की गिरह दुरुस्त करना ज़रूरी समझता है। ज़्यादातर कार से यात्रा करते हैं और उसे भी अदालत का कमरा मानते हैं। चुनांचे कराची से अगर काबुल जाना हो तो अपने मोहल्ले के चौराहे से ही ख़ैबर-दर्रे का रास्ता पूछने लगेंगे। दो साल पहले मिर्ज़ा उनके साथ 'मरी' और 'काग़ान-घाटी' की सैर कर आए थे और उनका बयान है कि कराची म्युनिसिपल कारपोरेशन की सीमाओं से निकलने से पहले ही वे पाकिस्तान का "रोड-मैप" (सड़कों का नक़्शा) सीट पर फैलाकर ग़ौर से देखने लगे। मिर्ज़ा ने कहा "तुम्हे बग़ैर नक़्शा देखे भी यह मालूम होना चाहिए कि कराची से निकलने की एक ही सड़क है। बक़िया तीन तरफ़ समुद्र है।" बोले, "इसीलिए तो सारा तरद्दुद है।"

इसी यात्रा की यादगार एक तस्वीर थी जो ज़िरग़ौस ने 'शोगरान पर्वत' पर एक पेंशनयाफ़्ता टट्टू पर रुकू[1] की हालत में खिंचवाई थी। इस तस्वीर में वे दुम के अलावा टट्टू की हर चीज़ पर सवार नज़र आते थे। लगाम इतने ज़ोर से खींच रखी थी कि टट्टू के कान उनके कानों को छू रहे थे और चारों कानों के बीच में टट्टू की गर्दन पर उनकी तीन-मंज़िला ठोड़ी की क़लम लगी हुई थी। अपना सारा वज़न रकाब पर डाले हुए थे ताकि टट्टू पर बोझ न पड़े। मिर्ज़ा कहते हैं कि खड़ी चढ़ाई के दौरान कई बार ऐसा हुआ कि टट्टू कमर लचकाकर जाँघों के नीचे से सटक गया और ज़िरग़ौस खड़े के खड़े रह गए। कठिन ढलानों पर जहाँ पगडंडी तंग और दाएँ-बाएँ हज़ारों फ़ीट गहरे खड्ड होते, वहाँ वे ख़ुद टाँगें सीधी करके खड़े रह जाते। कहते थे "अगर मुक़द्दर में गिरकर ही मरना लिक्खा है तो मैं अपनी टाँगों के लड़खड़ाने से मरना पसंद करूँगा, टट्टू की नहीं।" यह तस्वीर तीन-चार हफ़्ते तक उनके दफ़्तर में "रश" लेती रही। तत्पश्चात दूसरे वकीलों ने समझा-बुझाकर उतरवा दी कि पशु क्रूरता रोकथाम समिति वालों में से किसी ने देख ली तो खट से तुम्हारा चालान कर देंगे।

(2)

चार दरवेशों का यह क़ाफ़िला कार से रवाना हुआ। रेगिस्तान का सफ़र और लू का यह हाल कि पसीना निकलने से पहले सूख जाता! जैकबाबाद से आगे बढ़े तो मिर्ज़ा को बड़ी शिद्दत से चनों की कमी महसूस होने लगी। इसलिए कि अगर वो पास होते तो रेत में बड़े करारे भूने जा सकते थे। दोपहर के खाने के बाद उन्होंने सुराही में पत्ती डालकर चाय बनाने का प्रस्ताव रखा जो बिना शुक्रिया के इसलिए रद्द कर दिया गया कि सड़क से धुआँ सा उठ रहा था और थोड़ी-थोड़ी देर बाद ज़िरग़ौस को यही पानी उससे ज़्यादा गर्म टायरों पर छिड़कना पड़ता था। एक सौ बीस डिग्री गर्मी से पिघले हुए तारकोल की छींटें उड़-उड़कर कार के शीशे को

[1] रुकूः नमाज़ में झुकना। (अनु.)

दाग़दार कर रही थीं। इस छलनी में से झाँकते हुए हमने उंगली के इशारे से प्रोफ़ेसर को सात-आठ साल की बलोच लड़की दिखाई जो सिर पर ख़ाली घड़ा रखे सड़क पर नंगे पाँव चली जा रही थी। जैसे ही उस पर नज़र पड़ी, प्रोफ़ेसर ने बर्फ़ की डली जो वे चूस रहे थे, फ़ौरन थूक दी। इस पर ज़िरग़ौस कहने लगे कि वे एक दफ़ा जनवरी में कराची से बर्फ़बारी का दृश्य देखने गए तो 'मरी' के आस-पास बर्फ़ पर पैरों के निशान नज़र आए, जिनमें ख़ून जमा हुआ था। होटल गाइड ने बताया कि ये पहाड़ियों और उनके बच्चों के पैरों के निशान हैं। प्रोफ़ेसर के चेहरे पर दर्द की लहर देखकर ज़िरग़ौस तसल्ली देने लगेः

"ये लोग तो 'लैंडस्केप' ही का हिस्सा होते हैं। इनमें अहसास नहीं होता।"

प्रोफ़ेसर ने कहा, "यह कैसे हो सकता है?"

हॉर्न बजाते हुए बोले, "अहसास होता तो नंगे पाँव क्यों चलते?"

रास्ते की रूदाद जो रास्ते ही की तरह लम्बी और दिलचस्प है, हम अलग रिपोर्ताज के लिए उठा रखते हैं कि हर मील के पत्थर से एक यादगार हिमाक़त जुड़ी हुई है। फ़िलहाल इतना इशारा काफ़ी होगा कि मिर्ज़ा की संगत के मज़े ने छह सौ मील की दूरी और थकान को महसूस न होने दिया। पहाड़ी रास्तों के उतार-चढ़ाव प्रोफ़ेसर के लिए नई चीज़ थी। ख़ास तौर पर हमें संबोधित करके फ़रमाया, "वल्लाह! यह सड़क तो हार्ट-अटैक के कार्डियोग्राम की मानिंद है!" हर अप्रत्याशित मोड़ पर उन्हें बेगम की माँग उजड़ती दिखाई देती और वे मुड़-मुड़के सड़क को देखते जो पहाड़ के गिर्द साँप की तरह लिपटती, बल खाती चली गई थी। ज़िरग़ौस ने कार को एक सुरंग में से पिरोकर निकाला तो मिर्ज़ा अंग्रेज़ इंजीनियरों को याद करके एक दम भावुक हो गए। दोनों हाथ फैलाकर कहने लगेः

"यह हिल-स्टेशन अंग्रेज़ की देन है। यह पहाड़ अंग्रेज़ की खोज हैं।"

प्रोफ़ेसर क़ुद्दूस ने दाईं कनपटी खुजलाते हुए फ़ौरन खंडन किया। फ़रमाया, "इतिहास कहता है कि इन पहाड़ों पर अंग्रेज़ों से पहले भी लोग रहते थे।"

मिर्ज़ा ने कहा, "बिल्कुल ठीक! मगर उन्हें यह मालूम नहीं था कि वे पहाड़ पर रह रहे हैं!"

आख़िरकार नोक-झोंक और पर्वत-श्रंखला ख़त्म हुई और साँप के फन पर एक हीरा दमकता हुआ दिखाई दिया। "EUREKA! EUREKA!"

शहर में प्रवेश करते ही हम तो अपने आपको मुक़ामी आबोहवा के सिपुर्द करके चिंता-मुक्त हो गए, लेकिन मिर्ज़ा की बाछें कानों तक खिल गईं और ऐसी खिलीं कि मुँह में तरबूज़ की फाँक फ़िट आ जाए। सड़क के दोनों तरफ़ विशालकाय चिनार देखकर उन्ही की तरह झूमने लगे। बोले, "इसको कहते हैं प्रकृति का अलंकरण। एक पेड़ के नीचे पूरी बरात सो जाए। यूँ होने को लाहौर में भी दरख़्त हैं। एक से एक तनावर, एक से एक छतनार। मगर जून-जुलाई में पत्ता तक नहीं हिलता, मालूम होता है, साँस रोके फ़ोटो खिंचवा रहे हैं।"

हम बढ़कर बोले, "लेकिन कराची में तो चौबीस घंटे रसीली समुद्री हवा चलती रहती है।"

फ़रमाया, "हाँ! कराची में पीपल का पत्ता भी हिलने लगे तो हम उसे क़ुदरत का एक करिश्मा जानकर म्युनिसिपल कारपोरेशन का शुक्रिया अदा करते हैं, जिसने ये बेल-बूटे उगाए। मगर यहाँ इस 'नेचुरल ब्यूटी' की दाद देने वाला कोई नहीं। हाय! यह मंज़र तो बिलकुल 'क्रिसमस कार्ड' की तरह है!"

हम तीनों यह 'क्रिसमस कार्ड' देखने के बजाय प्रोफ़ेसर को देख रहे थे और वे 'ज़िन्दा' दरख़्तों को उंगलियों से छू-छूकर अपनी दृष्टि की पुष्टि कर रहे थे। दरअसल वे खूबानियों को फल वालों की दुकानों में रंगीन काग़ज़ों और गोटे के तारों से सजा-सजाया देखने के इतने आदी हो गए थे कि अब किसी तरह यक़ीन नहीं आता था कि खूबानियाँ दरख़्तों पर भी लग सकती हैं।

विद्वान प्रोफ़ेसर देर तक इस प्राणवर्धक दृश्य से आनंदविभोर होते रहे, बल्कि उसके कुछ स्वादिष्ट भागों के भक्षण भी किए।

(3)

पहली समस्या रिहाइश की थी। इसका चयन व प्रबंध प्रोफ़ेसर की तुच्छ राय पर छोड़ दिया गया, मगर उनकी नज़र में कोई होटल नहीं जँचता था। एक "अल्ट्रा-मॉडर्न" होटल को इसलिए नापसंद किया कि उसके ग़ुसलख़ाने बड़े लम्बे-चौड़े थे, मगर कमरे गुनहगार की क़ब्र की तरह तंग। दूसरे होटल को इसलिए कि वहाँ मामला विपरीत था और तीसरे होटल को इस वजह से कि वहाँ दोनों चीज़ें एक ही डिज़ाइन पर बनाई गई थीं। यानी.....आप समझ ही गए होंगे। चौथे आलीशान होटल से इस वजह से भाग लिए कि बन्दा किसी ऐसे होटल में ठहरने का रवादार नहीं, जहाँ के बैरे मुसाफ़िरों से ज़्यादा स्मार्ट हों। फिर कार पाँचवें होटल के पोर्च में जाकर रुकी, जहाँ एक साइन-बोर्ड दो-दो फ़ीट लम्बे अक्षरों में खाने और रहने का निमंत्रण दे रहा था:

घर जैसा भोजन व वातावरण

अबकी दफ़ा मिर्ज़ा बिदक गए। कहने लगे "साहब! मैं एक मिनट भी ऐसी जगह नहीं रह सकता, जहाँ फिर वही....."

जुमला पूरा होने से पहले हम उनका मतलब समझकर आगे बढ़ गए।

छठा नम्बर 'जनतान' होटल का था। अंग्रेज़ों के वक़्त की यह तरशी-तरशाई-सी इमारत सफ़ेदे के चिकने-चिकने तनों की ओट से यूँ झिलमिला रही थी जैसे सालगिरह का केक! देखते ही सब रीझ गए। प्रोफ़ेसर ने आगे बढ़कर उसके गए-गुज़रे ऐंग्लो-इंडियन मैनेजर से हाथ मिलाने के बाद किराया पूछा। जवाब मिला:

"सिंगिल-रूम —पचपन रुपए प्रतिदिन। डबल-रूम — मियाँ-बीवी के लिए —पचहत्तर रुपए।"

सब सन्नाटे में आ गए। ज़रा होश ठिकाने आए तो मिर्ज़ा ने सूखे मुँह से पूछा:

"क्या अपनी निजी बीवी के साथ भी पचहत्तर रुपए होंगे?"

ख़ैर, रहने का ठिकाना हुआ तो सैर-सपाटे की सूझी। प्रोफ़ेसर को कोयटा कुल मिलाकर बहुत पसंद आया। यह "कुल मिलाकर" का रोड़ा हमारा नहीं, उन्हीं का अटकाया हुआ है। दिल में वे सुंदरियों के इस नगर, रूपगर्विताओं की इस विहार-स्थली की एक-एक अदा, बल्कि एक-एक ईंट पर फ़िदा थे, लेकिन महफ़िल में खुल कर तरीफ़ नहीं करते थे, कि कहीं ऐसा न हो कि लोग उन्हें टूरिस्ट ब्यूरो का अफ़सर समझने लगें। चार-पाँच रोज़ बाद हमने एकांत में पूछाः

"कहो, हिल-स्टेशन पसंद आया?"

बोले, "हाँ! अगर यह पहाड़ न हों तो जगह अच्छी है।"

पूछा, "पहाड़ों से क्या हर्ज है?"

बोले, "बक़ौल 'मजाज़'[i] 'दूसरी तरफ़ का मंज़र नज़र नहीं आता।'"

दरअसल उन्हें घास-पात रहित पर्वत देखकर कुछ मायूसी हुई। चुनांचे एक दिन कहने लगेः

"मिर्ज़ा! यह पहाड़ तुम्हारे सिर की तरह क्यों हैं?"

"एक ज़माने में ये भी देवदारों और सनोबरों से ढके हुए थे। परबत-परबत हरियाली ही हरियाली थी मगर बकरियाँ सब चट कर गईं। इसीलिए सरकार ने बकरियों को जड़ से ख़त्म करने के लिए एक मोर्चा बनाया है और पूरी क़ौम हाथों में ख़ंजर लिए सरकार के साथ है।"

"मगर हमें तो यहाँ कहीं बकरियाँ नज़र नहीं आईं।"

"उन्हें यहाँ के बाशिंदे चट कर गए।"

"लेकिन मुझे तो गली-कूचों में यहाँ के असली बाशिंदे भी दिखाई नहीं देते।"

"हाँ! वे अब सिबी[ii] में रहते हैं।"

हमने दोनों को समझाया, "आज दरख़्त नहीं हैं तो क्या? वन-विभाग सलामत है तो क्या नहीं हो सकता।"

बोले, "साहब! वन-विभाग है तो हुआ करे। इन 'क्लीन-शेव' पहाड़ों में उसकी शायद वही ज़िम्मेदारियाँ होंगी जो अफ़ग़ानिस्तान में समुद्री बेड़े की!"

प्रोफ़ेसर ये पथरीले पहाड़ देखकर कहा करते थे कि ऐसे शुद्ध पहाड़, जिनमें पहाड़ के अलावा कुछ न हो, दुनिया में बहुत कम पाए जाते हैं। मिर्ज़ा ने बहुतेरा समझाया कि पहाड़ और अधेड़ औरत दरअसल ऑइल पेंटिंग की तरह होते हैं — इन्हें ज़रा फ़ासले से देखना चाहिए। मगर प्रोफ़ेसर दूर के जलवे के क़ायल नहीं। वृक्ष-विहीन पहाड़ों से उनकी विरक्ति कम करने की ग़रज से मिर्ज़ा ने एक दिन सूर्यास्त के समय मुर्दार पर्वत-श्रृंखला की वह मशहूर सुरमई पहाड़ी दिखाई, जिसके 'सिल्हूट[iii]' को देखने वाला अगर नज़र जमाकर देखे तो

---

[i] मजाज़ः असरारुल हक़ मजाज़ लखनवी. उर्दू के रोमैंटिक शायर. (अनु.)

[ii] सिबीः कोयटा से कोई सौ मील दूर एक बेहद गर्म (115-120 डिग्री) स्थान, जिसे कोयटा का दरवाज़ा कहना चाहिए, क्योंकि *हर रह जो उधर को जाती है सिबी से गुज़रकर जाती है।* (ले.)

[iii] सिल्हूटः चेहरे के एक तरफ़ की आउटलाइन, जिसमें काला रंग भरा हो। (ले.)

ऐसा मालूम होता है जैसे एक सुकुमारी सुंदरी मुर्दा पड़ी है। उसके पीछे को फैले हुए बाल, चौड़ी पेशानी, चेहरे का तीखा-तीखा प्रोफ़ाइल और सीने के तिकोन ग़ौर से देखने पर एक-एक करके उभरते चले जाते हैं। मिर्ज़ा उंगली पकड़के प्रोफ़ेसर को इस तस्वीर के हिज्जे कराते गए। महोदय अपनी आँखों पर दाएँ हाथ का छज्जा बनाकर ग़ौर से देखते रहे और इस सुन्दर व उदास दृश्य से न सिर्फ़ प्रभावित हुए बल्कि मुआयने के बाद घोषणा की कि सुकुमारी सुंदरी मरी नहीं, सिर्फ़ बेहोश है।

पहाड़ों की कंगाली का गिला दो दिन बाद दूर हुआ जब सब मंज़िलें मारते 'क़ायद-ए-आज़म' के प्रिय हिल स्टेशन 'ज़ियारत' (आठ हज़ार फ़ीट) पहुँचे। जहाँ तक प्रोफ़ेसर की ऐनक काम करती थी, हरा-ही-हरा नज़र आ रहा था। बिस्तरबंद खुलने से पहले विद्वान प्रोफ़ेसर ने एक पहाड़ी पर फ़तह पाई और उसकी चोटी पर पहुँचकर तस्वीरें भी उतरवाईं, जिनमें उनके होंठों पर वह विजयी मुस्कान खेल रही थी, जो नवाबों और महाराजों के चेहरों पर मुर्दा शेर के सिर पर रायफ़ल का कुंदा रखकर फ़ोटो खिंचवाते समय हुआ करती थी। वे इस सरकश चोटी की ऊँचाई आठ हज़ार पचास फ़ीट बताते थे और इसमें क़तई अतिशयोक्ति नहीं थी। इसलिए कि समुद्र-तल से इसकी ऊँचाई इतनी ही थी, हालाँकि ज़मीन की सतह से सिर्फ़ पचास फ़ीट ऊँची उठ पाई थी। झूठ-सच का हाल अल्लाह जाने, मगर मिर्ज़ा का हलफ़िया बयान है कि " विजित पर्वत की चोटी पर क़दम रखने के पाँच मिनट बाद तक विजयी प्रोफ़ेसर के हाँफने की आवाज़ पचास फ़ीट नीचे 'बेस-कैम्प' में साफ़ सुनाई देती थी, जहाँ ज़िरग़ौस 'मूवी-कैमरा' लिए शाम की नारंगी रोशनी में इस ऐतिहासिक दृश्य को फ़िल्मा रहे थे।" उपर्युक्त मुहिम के आख़िरी चरण में प्रोफ़ेसर ने यह विचार भी प्रकट किया कि "ऐसे पहाड़ों पर सरकार बिजली की लिफ़्ट लगा दे तो देश में पर्वतारोहण का शौक़ पैदा हो जाए।" इस काहिली पर मिर्ज़ा ने ताना दिया कि "हमारी ही क़ौम का एक शख़्स ज़हीरुद्दीन 'बाबर' कि जिसके घोड़ों की टापों से ये पर्वत और घाटियाँ, ये जंगल व वीराने कभी गूँजे थे, दो हट्टे-कट्टे मुग़ल सिपाहियों को बग़ल में दबाकर क़िले की दीवार पर बेझिझक दौड़ता था।" यह सुनते ही प्रोफ़ेसर जलधारा के पास सुस्ताने बैठ गए। उसके साफ़-पारदर्शी पानी से हाथ-पाँव धोए और गले में लटकी हुई छागल से 'मरी-बीयर' उंडेलते हुए बोले, "मगर हमारा इतिहास बाबर पर समाप्त नहीं होता सरकार! आप यह कैसे भूल गए कि वाजिद अली शाह, अवध के नवाब जब सीढ़ियों पर लड़खड़ाते हुए चढ़ते तो सहारे के लिए (उस ज़माने में लकड़ी की रेलिंग ईजाद नहीं हुई थी) हर सीढ़ी पर, जी हाँ! हर सीढ़ी पर दोनों तरफ़ कमसिन कनीज़ें खड़ी रहती थीं — मुग़लों की तलवार की तरह मुड़ी हुई और बे-म्यान!"

प्रोफ़ेसर ने भौगोलिक दुश्वारियों पर इस तरह क़ाबू पाने के और भी कई ऐतिहासिक तरीक़े बयान किए, जिनके प्रामाणिक होने में संदेह हो तो हो, निरालेपन में संदेह नहीं। लेकिन पर्वत शिखर पर पहुँचने के बाद जब वे सँभल-सँभलकर घुटनियों उतर रहे थे तो बराबर की चोटी पर एक भयानक परछाईं नज़र आई। पहाड़ों पर सूरज जल्दी डूब जाता है और उस समय दृश्य की एक-एक चीज़ पर रात का काजल फैलता जा रहा था। सन्नाटा ऐसा मुकम्मल, ऐसा पारदर्शी और ऐसा आर-पार कि कलाई अपने कान से लगाकर सुनें तो नब्ज़ की धक-धक साफ़ सुनाई दे। अचानक उस रहस्यमय परछाईं ने हरकत की। प्रोफ़ेसर के मुँह से बे इख़्तियार

एक चीख़ निकली और निकलती चली गई। और जब वह निकल चुकी तो, "रीछ!" कहकर वहीं सजदे में चले गए। मिर्ज़ा को भी हिदायत की कि जहाँ हो, वहीं बैठ जाओ और सिगरेट बुझा दो। मिर्ज़ा पहले ही बरफ़ानी रीछों के क़िस्से सुन चुके थे। यूँ भी सीधे-सादे मुसलमान हैं, लिहाज़ा हिदायत पर आँख बंद करके अमल किया, बल्कि अमल के बाद भी आँख बंद ही रखी। लेकिन कुछ देर बाद जी कड़ा करके उन्हें खोला तो पूछने लगे, "मगर यह 'मैं-मैं' क्यों कर रहा है?" प्रोफ़ेसर ने सजदे ही में ज़रा देर कान लगाकर सुना और फिर उछलकर खड़े हो गए। फ़रमाया, "अरे साहब! आवाज़ पर न जाइए। यह बड़ा मक्कार जानवर होता है!"

4

ज़िरग़ौस जिस तैयारी और तड़क-भड़क से सफ़र करते हैं वह देखने लायक़ है। मुहम्मद शाह रंगीले के बारे में तो सुना ही सुना था कि जब विजय रथ पर सवार उसकी सेना नादिर शाह दुर्रानी से लड़ने निकली तो जरनैल (जनरल) अपने मनसब के अनुसार छोटी, बड़ी, मंझोली पालकियों में सवार हुक्म देते जा रहे थे और आगे-आगे सेवक उनकी आबदार तलवारें उठाए चल रहे थे। युद्ध के अन्य साज़ो-सामान के अतिरिक्त कई छकड़े मेहंदी से लदे साथ चल रहे थे ताकि सिपाही और सेनापति अपने हाथ-पैरों और बालों को रणभूमि में जाने से पहले शाह-पसंद रंग में रंग सकें। मिर्ज़ा का कहना है कि सफ़र तो ख़ैर सफ़र है, ज़िरग़ौस शहर में भी इतनी वज़ादारी (रीति-निर्वाह) बरतते हैं कि उनका बड़ा लड़का जब क्रिकेट खेलता है तो चपरासी छतरी लगाए साथ-साथ दौड़ता है। 'ग़ालिब' की तरह ज़िरग़ौस तलवार और कफ़न ही नहीं, मैयत को नहलाने का तख़्त और काफ़ूर तक बाँधकर ले जाने वालों में से हैं। लिहाफ़ और मलमल का कुर्ता, नमक और कोका-कोला, ताश और कैसानोवा (उनका काला कुत्ता), डिनर-जैकेट और 'पिक-विक पेपर्स', बंदूक़ और 'फ़र्स्ट-एड' का बड़ा बॉक्स — ग़रज़ कि कौन-सी ग़ैरज़रूरी चीज़ है जो सफ़र के दौरान उनकी ज़ंबील (पिटारी) में नहीं होती? अलबत्ता इस बार वापसी पर उन्हें यह दुख रहा कि सफ़र यूँ तो हर लिहाज़ से सफल रहा, मगर फ़र्स्ट-एड का सामान इस्तेमाल करने का कोई मौक़ा नहीं मिला।

उनके अंदर जो शहरी बसा हुआ है वह किसी तरह और किसी पल उनका पीछा नहीं छोड़ता और उनका हाथ पकड़कर कभी बादाम के तने पर चाक़ू की नोक से अपना नाम और पदार्पण की तारीख़ लिखवाता है और कभी पहाड़ी चकोर के शोख़ रंगों की दाद बाईस बोर की गोली से देता है। कभी गूँजते-गरजते झरनों के दामन में 'रॉक एंड रोल' और 'ट्विस्ट' के रिकॉर्ड बजाकर सीटियों से संगत करता है और कभी जंगलों की सैर को यूँ निकलता है मानो 'ऐल्फ़ी'[1] या 'माल' पर शाम के शिकार को निकला है। मिर्ज़ा ने बार-बार समझाया, देखो! पहाड़ों, जंगलों और देहातों में जाना हो तो यूँ न निकला करो — यू-डी कोलोन लगाए, सिगार मुँह में, हर साँस बियर में बसा हुआ, बातों में ड्राइंगरूम की महक — इससे देहात की भीनी-भीनी खुशबुएँ दब जाती हैं। वह सहमी-सहमी खुशबुएँ जो याद दिलाती हैं कि यहाँ से देहात की सरहद शुरू होती है। वह सरहद जहाँ

[1] ऐल्फ़ी: एल्फ़िन्स्टन स्ट्रीट, कराची (ले.)

सदा खुशबुओं की धनक निकली रहती है — कच्चे दूध और ताज़ी कटी हुई घास की मीठी-मीठी बास, छप्परों-खपरैलों से छन-छनकर निकलता हुआ उपलों का कड़वा-कड़वा धुआँ, घुमर-घुमर चलती चक्की से फिसलते हुए मकई के आटे की गर्म-गर्म सुगंध के साथ 'कुँवारपने की तेज़ महक', जोहड़ की काई का भीगा छिछलांदा झोंका, सरसों की बालियों की कटीली महकार, भेड़-बकरियों के रेवड़ का भभका, अंगारों पर सिंकती हुई रोटी की सीधी पेट में घुस जाने वाली लपट और उन सब में रची हुई, उन सब में घुली हुई खेतों और खलियानों में ताँबा जैसे तपते हुए जिस्मों की हज़ारों साल पुरानी महक — यह ज़मीन की वहशी साँस की खुशबू है। ज़मीन को साँस लेने दो। इसकी खुशबू के सोते खून से जा मिलते हैं। इसे रोम-रोम में सहज-सहज जज़्ब होने दो। इसे 'हवाना सिगार और डिओडोरेंट' से न मारो कि यह एक बार जिस बस्ती से रूठ जाती है, फिर लौटकर नहीं आती। तुमने देखा होगा, छोटे बच्चों के जिस्म से एक रहस्यमय महक आती है। कच्ची-कच्ची, कोरी-कोरी, जो बड़े होकर अचानक ग़ायब हो जाती है। यही हाल बस्तियों का है। शहर अब बूढ़े हो चुके हैं। उनमें अपनी कोई खुशबू बाक़ी नहीं रही।

प्रोफ़ेसर कुद्दूस को ऐसी बातों में 'ला दे इक जंगल मुझे बाज़ार से' वाला फ़लसफ़ा नज़र आता है, जो सफ़ेद कालर वालों के सुगंधित पलायनवाद की पैदावार है। कहते हैं कि शहरी मृगों की नाभि उनके सिर में होती है। हमने देखा है कि बहस में चारों तरफ़ से मात खाने लगें तो वे मिर्ज़ा के किसी अर्ध-दार्शनिक जुमले की प्राचीर के पीछे दुबक जाते हैं और इस लिहाज़ से उनका रवैया ठेठ प्रोफ़ेसराना होता है। यानी मूलपाठ के बजाय फ़ुटनोट्स पढ़ना पुण्यकार्य समझते हैं।

लेकिन ज़िरग़ौस का अमल स्वस्थ न सही, स्वास्थ्यवर्धक ज़रूर है। वह इस तरह कि वे प्राकृतिक दृश्यों की दाद अपने पेट से देते हैं। जहाँ मौसम सुहाना और दृश्य दिलकश हुए, उनकी समझ में उससे आनंद लेने का एक यही तरीक़ा आया कि डटकर खाया जाए और बार-बार खाया जाए। और इस सुखद मनोरंजन से जो थोड़ा सा समय बच रहे, उसमें रमी खेली जाए। यहाँ बदक़िस्मती से मौसम हमेशा अच्छा रहता था। इसलिए रोज़ाना खाने के अंतराल के दौरान में रमी की बाज़ी जमती। अन्तरंग मित्रों ने इस तरह पूरे छह हफ़्ते एक दूसरे को सच्चे मन से कंगाल बनाने की कोशिशों में गुज़ार दिए। ज़िरग़ौस तो आँख बचाकर पत्ता बदलने में भी हर्ज नहीं समझते। इसलिए कि यह न करें तब भी प्रोफ़ेसर हर जीतने वाले को बेईमान समझते हैं। बहरहाल हमने तो यह देखा कि अनगिनत सुहाने पल जो चीड़ और चिनार के नज़ारे में गुज़ारे जा सकते थे, वो दोनों ने चिड़िया के ग़ुलाम और पान के चौवे पर नज़रें जमाए गुज़ार दिए और कभी पलटकर भयानक पहाड़ों पर डूबते सूरज और चढ़ते चाँद का प्रताप नहीं देखा और न कभी आँख उठाकर उस रूपनगर की आन देखी जिसके सिर से भूकंप की क़यामत गुज़र गई, मगर जहाँ आज भी गुलाब दहकते हैं। राहों पर भी और गालों पर भी। उनकी कनपटियों पर अब रुपहले तार झिलमिलाने लगे हैं मगर वे अभी उस आवारगी की लज़्ज़त से परिचित नहीं हुए जो एक पल में एक युग का रस भर देती है। अभी उन्होंने हर फूल, हर चेहरे को यूँ जी भरके देखना नहीं सीखा, जैसे आख़िरी बार देख रहे हों, फिर देखना नसीब न होगा। ऐसे ही पर्वत श्रृंखलाओं और घाटियों से गुज़रते हुए बाबर ने अपनी 'तुज़ुक' में कितनी मायूसी के साथ लिखा है कि जब हम किसी दरिया के किनारे पड़ाव

डालते हैं तो हम और हमारी मुग़ल फ़ौज अपने ख़ेमों का रुख़ दरिया के दिलकश मंज़र की तरफ़ रखते हैं, लेकिन हमारी हिंदी फ़ौज अपने ख़ेमों की पीठ नदी की तरफ़ कर लेती है।

यहाँ ज़िरग़ौस की कम-निगही दिखाना प्रयोजन नहीं। ईमान की बात यह है कि कराची पहुँचकर उन्होंने अपनी खींची हुई रंगीन फ़िल्में स्क्रीन पर देखीं तो दंग रह गए। कहने लगे, यार! कमाल है! इनसे तो मालूम होता है कि कोयटा खूबसूरत जगह है!

(5)

ज़िरग़ौस खुद को ह्वेनसांग और एडमंड हिलेरी से कम नहीं समझते। सियाहत (सैर-सपाटे) के इस दावे के बावजूद हालत यह है कि एक दिन मिर्ज़ा ने पूछा:

"यार! कंचनजंघा भी देखी?"

बोले, "नहीं। हम चीनी फ़िल्में नहीं देखते। मगर कौन सी फ़िल्म में काम कर रही है?"

मिर्ज़ा भी उनके साथ दूसरी बार अपने देश की खोज में निकले थे, मगर जहाँ गए, जिधर गए, खुद ही को रूबरू पाया। आख़िर दो महीने भूगोल में आत्मकथा का रंग भरके लौट आए। कहना पड़ेगा कि एक का दिल और दूसरे की आँखें शहरी हैं और इसकी पुष्टि पग-पग पर पिछले यात्रा-वृत्तांत से होती है। आप भी सुनिए, कभी इनकी, कभी उनकी जुबानी। ज़िरग़ौस का बयान है कि "त्योरिस के साल मिर्ज़ा 'काग़ान-घाटी' में ग्यारह हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर फ़ीरोज़ी रंग की जमी हुई झील, मीलों तक फैले हुए ग्लेशियर और बर्फ़पोश पहाड़ देखकर बहुत हैरान हुए। वे सोच भी नहीं सकते थे कि मलाई की बर्फ़ के अलावा भी कोई बर्फ़ हो सकती है और वह भी मुफ़्त! कमोबेश इतनी ही तीव्र आत्म-विभोरता कुन्हार नदी देखकर उन्होंने अपने ऊपर तारी कर ली। इस तिलमिलाती, झाग उड़ाती, पहाड़ी नदी के पुल पर देर तक दम साधे आश्चर्य-सागर में गोते लगाते रहे। आख़िर एक आबदार मोती लेकर उभरे। फ़रमाया, 'किस क़दर खूबसूरत झाग हैं! बिलकुल लक्स साबुन जैसे!' उपस्थित जनों ने इस इश्तेहारी उपमा का मज़ाक़ उड़ाया तो तुनककर बोल, 'साहब! मैं तो जब जानूँ कि वड्र्सवर्थ को बीच में लाए बिना आप नेचर पर दो जुमले बोलकर दिखा दें।'"

मिर्ज़ा इसी टक्कर का, इसी स्थान और इसी घड़ी का एक और समाँ खींचते हैं। जिससे पता चलता है कि चिंतामुक्त व सुखी मानव किस-किस प्रकार प्राकृतिक दृश्यों का मान-सम्मान बढ़ाते हैं। (तस्वीर में जगह-जगह ज़िरग़ौस ने भी शोख़ रंग लगा दिए हैं।) यह स्थान बालाकोट के दामन में इस किनारे पर स्थित है, जहाँ नदी दो भारी पहाड़ों के बीच नर्तकी की कमर की तरह बल खा गई है। इससे यह चमत्कार जुड़ा हुआ है कि जहाँगीर के साथ इस रास्ते से कश्मीर जाते हुए नूरजहाँ की आँखों में जलन हुई। जहाँगीर को रात-भर नींद न आई। शाही हकीम के 'सुरमा', 'अंजन' और 'लेप' से कोई आराम नहीं हुआ। अचानक एक पहुँचे हुए दरवेश का इधर से गुज़र हुआ। उसने कहा, "जैसे ही चाँद इस सनोबर के ऊपर आए, मलिका नदी का पानी अंजुली में भरकर उसमें अपना चेहरा देखे और उसी से सात बार अपना चेहरा धोए। मौला मेहरबानी करेगा।" नूरजहाँ

ने ऐसा ही किया और तारा सी आँखें हो गईं। उस दिन से उस स्थान का नाम नयनसुख हो गया और इधर से निकलते हुए आज भी बहुत से हाथ मोती-सा पानी चुल्लू में भरके इस अलबेली मलिका की याद ताज़ा कर जाते हैं।

हाँ! तो यही स्थान था और शुरू बरसात की रात! सुबह इसी जगह एक ऐतिहासिक फ़िल्म की शूटिंग के दौरान हीरोइन के पैर में मोच आ गई थी और चिराग़ जले तक बालाकोट की घाटी का हर वह बाशिंदा जो उस दिन शय्या-ग्रस्त नहीं था, उस घोड़े को देखने आया जिससे हीरोइन गिरी या गिराई गई थी और उस वक़्त जब रात का जोबन अभी नहीं ढला था, यहाँ उसी फ़िल्म के प्रोड्यूसर (जिन का मुक़दमा मजिस्ट्रेट से सेशन-जजी और सेशन-जजी से हाईकोर्ट और हाईकोर्ट से सुप्रीम कोर्ट तक ज़िरग़ौस ने बिना मेहनताना व मेहनत के लड़ा और हारा था) ज़िरग़ौस की आवभगत में बिछे जा रहे थे। साथ में शहद जैसी रंगत के बालों वाली हीरोइन भी थी, जो ट्रांज़िस्टर रेडियो पर 'चा चा चा' की धुन पर बैठे ही बैठे अपनी सक्रिय टांग थिरका रही थी और मिर्ज़ा के शब्दों में "'ओपन एयर-होस्टेस' के दायित्व बड़ी तन्मयता से अंजाम दे रही थी।" ज़िरग़ौस फ़ीरोज़े की अँगूठी से पिकविक पेपर्स की जिल्द पर ताल दे रहे थे। रेडियो पर कोई गर्म गीत आता तो सब-के-सब सुर मिलाकर इतने ज़ोर से डकराने लगते कि असल गाना बिल्कुल सुनाई न देता। सिर्फ़ नापसंदीदा गाने ख़ामोशी और तवज्जो से सुने गए। अलबत्ता मिर्ज़ा शाम ही से संजीदगी व सर्दी के सबब ख़ामोश थे। उन्हें जब ज़्यादा सर्दी महसूस होने लगती तो बेइख़्तियार उन भयानक मशालों को टकटकी बाँधकर देखने लगते, जो बीस मील दूर पहाड़ों पर एक महीने से रात होते ही रोशन हो जाती थीं। एक महीने से काग़ान के जंगल धड़-धड़ जल रहे थे और दूर-दूर से पर्यटक सनोबरों की आग देखने लाए जा रहे थे। लेकिन यहाँ चारों तरफ़ परत-दर-परत अँधेरा था, जिसमें पहाड़ी जुगनू जगह-जगह मुसलमानों की उम्मीदों की तरह टिमटिमा रहे थे। मिर्ज़ा नज़रें नीची किए रस भरी गंडेरियाँ चूसते रहे। थोड़े-थोड़े अंतराल पर ज़िरग़ौस अपनी कार की हेडलाइट जला देते और साँवली रात अपने भेद सौंपकर चंद क़दम पीछे हट जाती। उनके सोने के दाँत से किरनें फूटने लगतीं और कैसानोवा की जगमग आँखों के चराग जल उठते। कुछ और रूप भी जिन्हें रोशनी ने रात की चट्टान चीरकर तराशा था, आँखों के सामने कौंध जाते

चेहरा फ़रोग़-ए-मय से गुलिस्ताँ किए हुए

इस कौंधे में नद्दी झमाझम करने लगती, जैसे टिशू की साड़ी। (माफ़ कीजिए, यह तीर भी उसी तरकश का है।)

सामने मिर्ज़ा ख़ामोश आनंदमग्न बैठे हुए थे। कुछ बर्फ़ीली हवा, कुछ गंडेरी का असर। उनका हाथ अपनी नाक पर पड़ा तो ऐसा लगा कि जैसे किसी दूसरे की है। फिर नद्दी के पानी में हाथ डाला तो महसूस हुआ, मानो पिघली हुई बर्फ़ है। और यह इसलिए महसूस हुआ कि वह वाक़ई पिघली हुई बर्फ़ थी, इससे फ़ायदा उठाने के लिए 'ब्लैक-एंड-व्हाइट' की दूसरी बोतल की गर्दन मिर्ज़ा की टाई से बाँधकर नदी में डाल दी गई थी। अभी कुछ देर पहले प्रोड्यूसर साहब को एक शैम्पेन ग्लास के किनारे पर लिपस्टिक का गुमान गुज़रा तो उतना

हिस्सा अपने दाँतों से तोड़कर कटर-कटर चबाने लगे और अब वे अँधेरे में सिगरेट का कश लेते तो मुँह के दोनों कोनों पर जीते-जीते खून की धारें चमक उठती थीं। गंडेरियों से फ़ुर्सत पाकर मिर्ज़ा इस मंज़र को अपनी आँखों से पिए जा रहे थे जिनमें गुलाबी डोरे उभर आए थे, जो ग़ालिबन नींद के होंगे। इसलिए कि गंडेरी में अगर नशा होता तो मौलवी गन्ने लेकर गंडेरी खाने वालों के पीछे पड़ जाते। उनके ढब बेढब होते देखे तो ज़िरग़ौस ने कंधे झिंझोड़कर पूछाः

"मिर्ज़ा! तुमने कभी व्हिस्की पी है?"

ख़ुमार-भरी आँखें खोलते हुए बोले, "पी तो नहीं, मगर बोतल से ऐसी बू आती है, जैसी इनके मुँह से। बिल्कुल टिंक्चर-आयोडीन जैसी।"

यह कहकर पुष्टि-तलब दृष्टि से प्रोड्यूसर को देखने लगे, जो इस टिंक्चर-आयोडीन से अपने मुँह और दिल के ज़ख़्मों को डिसइन्फ़ेक्ट कर रहे थे। यह शग़ल उस समय तक जारी रहा, जब तक न पीने वालों ने नींद से बेहाल होकर ऊल-जलूल बकना शुरू न कर दिया और जाते महीने की चाँदनी में बालाकोट की बुलन्दी पर उस मक़बरे की रूपरेखाएँ दमकने लगीं, जहाँ सवा सौ साल पहले इसी घाटी, इसी ऋतु और उतरते चाँद की इन्हीं तारीख़ों में एक जियाले[1] ने अपने ख़ून से अपनी क़ौम के दाग़ों को धोया था और जहाँ आज भी खुदा के सादा-दिल बंदे नसवार की भेंट चढ़ाकर मुरादें माँगते नज़र आ जाते हैं।

(6)

बात एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ जा पहुँची। दिखाना सिर्फ़ यह था कि पहाड़ पर ज़िन्दगी हर ढंग और हर ढब से गुज़ारी जा सकती है। हँसकर, रोकर या अक्सर लोगों की तरह सोकर। मिर्ज़ा किसी घर बंद नहीं। कुछ नहीं तो, चोरी-चोरी बेगम ज़िरग़ौस के मुहब्बत और इमला की ग़लतियों से भरे हुए ख़त ही पढ़ते रहते। मगर एक दिन एक अजीब रंग में पाए, बल्कि पकड़े गए। देखा कि अलग-अलग रंगों और ख़ुशबुओं के टूथपेस्ट से कैरम बोर्ड पर कुछ पेंट कर रहे हैं। ख़ैर, टूथपेस्ट के इस्तेमाल पर तो हमें कोई अचंभा नहीं हुआ। इसलिए कि सुन चुके थे कि एब्सट्रेक्ट आर्टिस्ट (अमूर्त कलाकार) तस्वीर पर नेल-पॉलिश और फ़िनाइल तक लगाने से नहीं चूकते और एक साहब तो ऐसे भी हैं, जिन्होंने कैनवस पर घोड़े की नाल, अपने कटे हुए नाख़ून और इकलौती पतलून के सातों बटन, मॉडल की चूसी हुई गम (gum) से चिपकाकर बग़दादी जिमख़ाना में प्राइज़ हासिल किया था। कहने का मतलब यह कि आर्टिस्टों की सोहबत में रहते-रहते हम ऐसी बातों के आदी हो चुके हैं। ठठेरे का कबूतर तालियों से नहीं उड़ता। लेकिन उस वक़्त परेशानी जो हुई तो इस बात से कि हमारी औपचारिक प्रशंसा को सच समझकर वे हमीं से इस लज़ीज़ तस्वीर का शीर्षक पूछने लगे।

"शीर्षक में क्या रखा है। असल चीज़ तो तस्वीर होती है, तस्वीर!" हमने टालना चाहा।

"फिर भी। क्या नज़र आता है तुम्हें? वे भला कब छोड़ने वाले थे।"

---

[1] हज़रत शाह इस्माईल शहीद (ले.)

"नज़र तो आता है, मगर समझ में नहीं आता।"

"पिकासो से भी कभी किसी ने कहा था कि साहब! आपकी तस्वीरें समझ में नहीं आतीं। उसने बड़ा प्यारा जवाब दिया। कहने लगा, चीनी भाषा आपकी समझ में नहीं आती, मगर पचास करोड़ आदमी उसे बोलते हैं। क्या समझे?"

"लेकिन यह तस्वीर तो पिकासो की भी समझ में नहीं आ सकती।" हमने कहा।

"बला से न आए। एक नर्तकी अपनी सुन्दरता और अपने कला-कौशल की दाद लेने दूसरी नर्तकी के पास नहीं जाती। दाद तो दर्शकों से मिलती है।" मिर्ज़ा ने कहा।

ज़िरग़ौस की तरह मिर्ज़ा भी हिल-स्टेशन को एक पैदाइशी शहरी की प्यार भरी नज़र से देखते हैं और नज़र भी ऐसे शहरी की, जिसकी पैदाइश और पहली बीमारी की तारीख़ एक ही हो। ख़ैर, मिर्ज़ा तो हमारे अन्तरंग मित्र ठहरे, जिनकी नस-नस से हम इस तरह वाक़िफ हैं जैसे अपनी हथेली से। लेकिन इस दफ़ा हमें ज़िरग़ौस और हिल-स्टेशन दोनों को बहुत क़रीब से देखने का इत्तिफ़ाक़ हुआ और हम इस नतीजे पर पहुँचे कि ख़ुदा अगर आँखें दे तो उन्हें इस्तेमाल करने के मौक़े भी दे, वर्ना धिक्कार ऐसी ज़िन्दगी पर। लेकिन हिल-स्टेशन पर —चाहे वह 'मरी' हो या 'मसूरी', 'उटकमंड' हो या 'कोयटा' — ज़िन्दगी हमारी आपकी तरह बेमक़सद नहीं होती। इसका एक मक़सद, एक दृष्टिकोण होता है। वह यह कि सदा सुहागिन सड़कों पर वह फ़ैशन-परेड देखी जाए, जिसमें हर साल ख़ुशहाल घरानों की बेचैन बहू-बेटियाँ धन और तन की बाज़ी लगा देती हैं। इन्हीं सड़कों पर काली कॉफ़ी और आलू की कतरनों पर गुज़ारा करने वाले साहित्यकार बेगमाती(ज़नाना) ज़बान में एक दूसरे को ख़ूनी इन्क़लाब पर उकसाते हैं। इन्हीं सड़कों पर अपने गमलों में बरगद उगाने वाले इंटेलेक्चुअल किसी सुन्दर लड़की को पत्नीत्व का गौरव प्रदान करने की घात में लगे रहते हैं। उधर सुन्दर लड़की, सुन्दर मुखड़े का दिया लिए, इस तलाश में हैरान-परेशान कि अतिशीघ्र किसी बूढ़े लखपति की विधवा बन जाए! यह स्वयंवर, यह सुहाग-ऋतु हर हिल-स्टेशन पर हर साल मनाई जाती है और इससे पहले कि नई-नवेली हरियाली बर्फ़ का कफ़न पहनकर सो जाए, चिनारों की आग सर्द और क़हवा-ख़ाने वीरान हो जाएँ, मवेशी मैदानों में उतरने लगें और सड़कों पर कोई जीव नज़र न आए, सिवाय टूरिस्ट के — इससे पहले कि वसंत बीत जाए, बहुत से हाथों की तीसरी उंगली में अंगूठियाँ जगमगाने लगती हैं। अगरचे ज़िरग़ौस के सेहरे के फूल दो दफ़ा खिलना क्या, मुरझा चुके हैं, मगर अब भी सड़क पर ढेर सारे हसीन चेहरे देखकर उनका हाल ऐसा होता है, जैसे खिलौनों की दुकान में अनाथ बच्चे का!

इस स्वयंवर के साथ-साथ हिल-स्टेशन पर सारे देश के लाइलाज रईसों और संपन्न दुर्बलों का एक भव्य वार्षिक मेला लगता है, जिसमें व्यापक पैमाने पर रोगों का आदान-प्रदान होता है। आपने शायद सुना हो कि बनारस में, जो अपनी सुबह और साड़ियों के बावजूद एक पवित्र स्थान की हैसियत से भी प्रसिद्ध है, सारे हिंदुस्तान के मुमुक्षु बूढ़े मरने के लिए खिंचकर चले आते हैं और बहुत जल्द उनकी इच्छा की पूर्ति होती है। जो रोगी अपनी इच्छा-शक्ति की दुर्बलता के कारण स्वयं को मरने के लिए तैयार नहीं कर पाते, वे निकटतम हिल-स्टेशन पर चले जाते हैं। हमारे मिर्ज़ा साहब का उत्तरोल्लिखित (रोगी-बिरादरी) से कितना पुराना संबंध है,

इसका अंदाज़ा इस घटना से लगाया जा सकता है कि बीस बरस पहले आई.सी.एस. की परीक्षा में प्रथम आने के बाद उनका डॉक्टरी मुआयना हुआ तो पता चला, दाँतों के अलावा और कोई चीज़ ठीक नहीं। वैसे बिरादरी के एक मेम्बर होने की हैसियत से हम खुद भी अपने स्वास्थ्य की तरफ़ से एक पल ग़ाफ़िल नहीं, फिर भी अभी यह नौबत नहीं आई कि विटामिन की गोली हलक़ से उतरते ही अपने बाज़ू की मछलियाँ फुला-फुलाकर देखने लगें। लेकिन मिर्ज़ा का यह रोज़मर्रा का मामूल-सा हो गया कि दवाएँ हज़म करने के लिए शाम को माँगे-ताँगे की छड़ी घुमाते हुए निकल जाते। दस्तानों की तरह यह सुडौल छड़ी भी प्रोफ़ेसर के दोस्त पेरिस से लाए थे। इस पर फ़्रेंच ऐक्ट्रेस 'ब्रिजिट बार्दो' की टाँग का ऊपरी हिस्सा बतौर दस्ता लगा हुआ था। इसी के सहारे प्रोफ़ेसर ने वह टीला "फ़तह" किया जिस पर चढ़ाई का तफ़सीली हाल पहले आ चुका है। इसी के ज़रिए वे अँधेरी रातों में अपने और गुस्ताख़ कुत्तों के बीच एक गरिमामय फ़ासला क़ायम रखते हैं और अब इसी को हिलाते, सहलाते हुए मिर्ज़ा जिन्नाह रोड की हर तीसरी दुकान में (जो दवाओं की होती है) बेधड़क घुसते चले जाते। काउंटर के पास रखी मशीन में खोटी इकन्नी डालकर अपना वज़न लेते और औंस-दो-औंस के इज़ाफ़े पर मुक़ामी आबोहवा की शान में स्तुति-गान करते लौटते। एक दिन हमने कहाः

"देखो, दवाओं की यह दुकान कितनी चलती है। सुबह से रात गए तक सुन्दर वस्त्रों में सजी-धजी महिलाओं का ताँता बँधा रहता है। मगर तुम्हें यहाँ तुलते कभी नहीं देखा।"

कहने लगे, "तौबा कीजिए साहब! मालूम होता है कि इसकी मशीन ख़ास तौर पर औरतों के लिए बनवाई गई है। एक दिन तुला तो कुल चालीस पौंड उतरा। धक से रह गया। सेठ से जाकर शिकायत की 'यह क्या ज़्यादती है?' खुदा की क़सम खाके बोला 'आपके साथ दुश्मनी थोड़ा ही है। सभी को पचास पौंड कम बताती है!'"

उसके बाद उस बेईमान ने खोटी इकन्नियों की ढेरी में से मिर्ज़ा को एक इकन्नी वापस करनी चाही, जिसे उन्होंने नैतिकता के आधार पर स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

भला मिर्ज़ा ऐसी दुकान में जाकर सेरों बल्कि मनों मायूसियाँ क्यों मोल लेने लगते। वे तो उन सेहत-पसंद लोगों में से हैं, जो टहलने निकलें तो क़दमों की गिनती रखते हैं और शक्तिवर्धक लुक़मा लेने से पहले उस खून की एक-एक बूँद का हिसाब लगा लेते हैं, जो उससे बननी चाहिए — मगर नहीं बनती। उनके पोषकीय पैमाने के अनुसार काले हिरन की कलेजी में एक समूचे ऊँट की पौष्टिकता होती है और एक पहाड़ी चकोर में हिरन के बराबर। लेकिन कोयटा की एक खूबानी पूरे तीन चकोरों के बराबर होती है। और इसी पर बाक़ी का अनुमान लगा लीजिए। एक दिन अपने हिसाब से डेढ़-दो दर्जन समूचे ऊँट पेड़ से तोड़कर कचर-कचर खाए और झूमते-झामते हमारे पास आए। कहने लगेः

"साहब! यह शहर तो इतना हसीन है कि खा-खाके अपना तो दिवाला निकला जा रहा है। खाना हलक़ से उतरा नहीं कि हज़म।"

हमने कहा, "इससे फ़ायदा?"

बोले, "देखते नहीं? टूरिस्ट बीबियाँ बेकारी से बचने के लिए दिन भर जो स्वेटर सटासट बुनती रहती हैं, वो तैयार होने से पहले तंग हो जाते हैं। शाम को चाय और चिलगोज़े के साथ चुग़ली बड़ा मज़ा देती है। फिर हर चीज़ सस्ती, हर चीज़ शुद्ध। हद यह कि स्कैंडल में भी झूठ की मिलावट नहीं। कराची में शुद्ध दूध तो बड़ी बात है, पानी भी शुद्ध नहीं मिलता। उसमें भी दूध की मिलावट होती है। मगर यहाँ दुकानदार आदतन सच बोलते हैं और सस्ता बेचते हैं। इसीलिए कुछ टूरिस्ट समझते हैं कि छोटा शहर है।"

फिर वे कोयटा की श्रेष्ठता, एक के बाद दूसरी, दुनिया के दूसरे शहरों पर साबित करने लगे:

"लाहौर?"

"कैलेंडर से अप्रैल, मई, जून, जुलाई, अगस्त, सितम्बर के महीने हमेशा के लिए निकाल दिए जाएँ, तो वल्लाह! लाहौर का जवाब नहीं ।"

"रोम?"

"एक हसीन क़ब्रिस्तान! ज़मीन के नीचे की आबादी, ऊपर की आबादी से कहीं ज़्यादा है। रहे ऐतिहासिक खंडहर, सो उनमें चिमगादड़ें और अमरीकी टूरिस्ट बसेरा करते हैं। 'जेम्स ज्वायस' ने झूठ नहीं कहा था कि रोम की मिसाल एक ऐसे शख़्स की है जो अपनी नानी की लाश की नुमाइश करके रोज़ी कमाता है ।"

"मरी, पर्वत श्रंखलाओं की रानी मरी?"

"साहब! रमणीयता में कोयटा से कम नहीं — 'वही नक़्शा है वले इस कदर आबाद नहीं'"

"और दिल्ली?"

"शहर बुरा नहीं, मगर ग़लत मुल्क में आबाद है।"

"जिनेवा- संसार की स्वास्थ्य-स्थली?"

"साहब! मरने के लिए उससे ज़्यादा रमणीय स्थान इस धरती पर कहीं नहीं।"

"कराची के बारे में क्या राय है हुज़ूर की?"

"बहुत अच्छी! अगर आप सिर के बल खड़े होकर देखें तो कराची की हर चीज़ सीधी नज़र आएगी।"

"यार! तुम कराची के साथ तो खुली ज़्यादती कर रहे हो।"

"हरगिज़ नहीं। मैं कराची के हक़ के लिए हमेशा लड़ता रहूँगा। इसीलिए मैं कराची वालों के इस मुतालबे की बड़ी पुरज़ोर हिमायत करता हूँ कि मलेर के पुल और सड़क की मरम्मत होनी चाहिए। ज़रूर होनी चाहिए और जल्द होनी चाहिए ताकि कराची से निकलने में आसानी रहे।"

"यही बात है तो तुम वापस क्यों जा रहे हो?"

"मगर (तर्जनी उठाते हुए) एक बात है। कराची वाले आगे होकर कराची की बुराई करते हैं, लेकिन कोई और उनकी हाँ में हाँ मिला दे तो ख़फ़ा हो जाते हैं। बस इसी अदा पर प्यार आता है।"

फिर कोयटा की श्रेष्ठता साबित करते-करते बेध्यानी में कहने लगे, "हाय! यह शानदार शहर अगर कराची में होता तो क्या बात थी!"

मिर्ज़ा ने इतना कहा और दायाँ हाथ फैलाकर अपना सीना फुलाया और फिर प्रथमोल्लिखित को उत्तरोल्लिखित पर मारा। फिर एक सर्द आह खींची और ख़ामोश हो गए।

उनके गालों पर शुद्ध रक्त के वो चंद क़तरे चमक रहे थे, जिन्हें समय की धूप ने बहुत जल्द ख़ुश्क कर दिया।

(अप्रैल - 1963)
(मेरे मुँह में ख़ाक)